

भ्रमरगीत का दार्शनिक दृष्टिकोण

डॉ. आर.पी. वर्मा,

एसो. प्रो. एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग,

राजकीय महाविद्यालय गोसाईंखेड़ा,

जनपद—उन्नाव, उ.प्र.

लीला पुरुषोत्तम कृष्ण की माधुर्य लीलाओं के अमर गायक सूरदास जी मूलतः रससिद्ध कवि हैं, पर उनके काव्य में तत्कालीन दार्शनिक मान्यताएं प्रच्छन्न रूप में देखी जा सकती हैं। कुछ विचारकों की दृष्टि में कविता में जब दर्शन आ जाता है, तो वह बूढ़ी हो जाती है। पर वल्लभाचार्य के शिष्य सूर ने अपनी कविता की रसमयी धारा को दर्शन की नीरसता और शुष्कता से बचा लिया है। उन्होंने काव्य में दर्शन का समावेश और तत्कालीन वैचारिक विचारधाराओं के प्रति अपनी अवधारणा व्यक्त की है और अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं की पुष्टि भी की है।

सूरदास का आविर्भाव काल विभिन्न सम्प्रदायों का संघर्ष काल है। उस समय ज्ञान, योग और भक्ति का त्रिकोणात्मक संघर्ष चल रहा था। वेदांती लोग अंतःकरण की शुद्धि, जप, तप आदि को प्रमुखता देते थे और नाथपंथी योग को। इधर सम्तगत (कबीर आदि) जिसने उक्त दोनों ही सम्प्रदायों से कुछ न कुछ लिया था निर्गुण उपासना का ढोल पीट रहा था। आचार्य द्विवेदी के मतानुसार निर्गुण उपासना से सूरदास का मतलब शायद कबीरदास आदि की साधना से है। (सूर साहित्य, पृ 52) निर्गुण पंथ ईश्वर की सर्वव्यापकता, भेदभाव की शून्यता, सब मतों की एकता आदि लेकर बढ़ रहा था। फलतः उप पर चलकर अपढ़ जनता ज्ञान की अनपढ़ बातों और योग के टेढ़े-मेढ़े अभ्यासों को ही सब कुछ मान बैठी तथा दंभ, अहंकार आदि दुर्वृत्तियों से उलझने

लगी। ज्ञान का ककहरा भी न जानने वाले उसके पारंगत पंडितों से मुंहजोरी करने लगे –

बादहि सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह तें कुछ घाटि।

जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर आंखि देखावहिं जांति।।

जैसे तुलसी के “मानस” में यह लोग विरोधी धारा विरोधी धारा खटकी, वैसे ही सूर की आंखों में भी। तुलसी ने “उत्तरकांड” के विविध प्रसंगों में ज्ञान बघारने वालों की योग और ज्ञान जो प्रतिकार गोपियों ने सूरसागर में किया, वह सूर की अभिनव योजना है। सूरसागर के आदिस्त्रोत श्रीमद्भागवत् में यह विधान है कि नहीं। उद्धव के ब्रज जाने, उपदेश देने, भ्रमर के आने और उसे खरी-खोटी सुनाने का वृत्त तो वहां है, पर गोपियों द्वारा ज्ञान योग का विरोध नहीं। ब्रज में उद्धव का केवल स्वागत-सत्कार ही हुआ, फटकार की मार उन पर नहीं पड़ी। निर्गुण और सगुण का खण्डन-मण्डन में नहीं है। वहां भक्ति की दृष्टि से ज्ञान का विरोध है। पर सगुण की दृष्टि से निर्गुण का नहीं। भारतीय परंपरा ब्रह्म के उभयविध रूपों-निर्गुण और सगुण, मूर्तामूर्त को मान्यता देती रही है। निर्गुण ज्येष्ठ उपासकों के लिए था और सगुण कनिष्ठ उपासकों के लिए। पर कबीर आदि ने कनिष्ठ उपासकों के लिए भी निर्गुण को ही उपास्य बनाने का जो उद्घोष किया, वह परंपरा विरोधी थी। उसमें उपासक के स्तर के अनुरूप व्यवस्था नहीं थी। वे प्रेम को लेकर ज्ञान का खण्डन करते और ज्ञान को लेकर सगुण का खण्डन करते। यही कारण था कि सूर आदि कवियों ने जन-सामान्य के लिए निर्गुण की

साधना को कठिन बतलाकर सगुण की स्थानपना की। तुलसी को यह अवसर—लोमश—कागभुशुंडि संवाद” में मिला और सूर को भ्रमरगीत प्रलंभ में। अतः यह निष्कर्ष निकला कि भक्तिकाल के इन दो महाकवियों ने तत्कालीन उद्वेगजनक प्रवृत्ति का उच्छेद करने के लिए ही अपनी कृतियों में निर्गुण—सगुण, ज्ञान—भक्ति और योग प्रेम के विवाद का अवसर निकाला।

भ्रमरगीत की दार्शनिक मान्यताओं के पीछे सूरदास का सांप्रदायिक दृष्टिकोण भी है। वे शुद्धाद्वैत और पृष्टिमार्ग के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ के शिष्य थे। वल्लभ संप्रदाय की दार्शनिक मान्यताओं की पृष्ठभूमि भी उनकी चिन्तन—दिशा को प्रेरणा देती थी। अतः यहां उसका प्रसंगोपेक्ष स्पष्टीकरण आवश्यक है।

भारतीय चिंतनधारा में शांकर अद्वैत का अविस्मरणीय महत्त्व है। उनके मतानुसार ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है। सारा जगत् मिथ्या है। माया के भ्रम के कारण वह निर्गुण ब्रह्म सगुण सा आभासित होता है। उन्होंने ब्रह्मप्राप्ति के लिए ज्ञान और योग का विधान किया और निर्गुण ब्रह्म को परम प्राप्तव्य बतलाया। उनके इस मतवाद का खण्डन दक्षिण के चार आचार्यों ने किया। उन लोगों ने निर्गुण के स्थान पर सगुण को पारमार्थिक और व्यावहारिक बतलाया और जगत् को मिथ्या न मानकर उसे सत् स्वरूप माना। इन आचार्यों ने विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैत का वल्लभाचार्य ने व्यापक प्रचार किया। इस मत में ब्रह्म माया से शुद्ध है, वह सत् चित् और आनन्द स्वरूप है। वह अविनाशी, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक है। समस्त जगत् का आधारभूत कारण है। इस सच्चिदानन्द ब्रह्म में आविर्भाव और तिरोभाव की शक्ति है। उसके सत् अंश से जगत् का आविर्भाव होता है और चित् से जीव का। अतः ब्रह्म का अंश होने के कारण जीव और जगत् सत्य हैं। जीव में आनन्दशक्ति का तिरोभाव और चित् और सत् धर्म का आविर्भाव रहता है।

वह प्रभु के अनुग्रह से युक्त होकर जब आनन्द अंश की प्राप्ति करता है, तब उसे सांसारिक दुःखों से मुक्ति मिल जाती है।

ब्रह्माविरुद्ध धर्माश्रयी है। वह निर्गुण—निविशेष होते हुए भी सगुण और सविशेष होते हुए भी सगुण और सविशेष है। वह प्राकृत धर्मों से रहित होते हुए भी समर्थक है। जो ब्रह्म मन—वाणी से अगम—अगोचर है, वहीं साधना और भक्ति के वश में होकर तथा अपनी इच्छा से भस्म और गोचर हो जाता है। वल्लभ ने ब्रह्म के रसेश्वर को मान्यता दी है। उनकी दृष्टि में श्रीकृष्ण ही सम्पूर्णानन्द पुरुषोत्तम है। वे ही पुष्टिमार्ग के इष्ट हैं। जब आनन्द स्वरूप पुरुषोत्तम आनन्द के लिए लीला—विस्तार करना चाहता है, तब उसकी शक्तियां भी बहिःस्थित रहती हैं और रूपों और नामों से उसके साथ विलास करती हैं। उन शक्तियों में श्री, पुष्टि, आदि बारह शक्तियां प्रमुख हैं। वे ही वीरवामिनी राधा के रूप में अन्य नामों से प्रकट होकर पुरुषोत्तम के साथ ही प्रकट होती हैं। इनमें से पुनः अनंत भाव प्रकट होते हैं, जो अनेक सखी, सहचरी के रूप में उनके साथ रहते हैं। इन शक्तियों के साथ क्रीड़ा करने के लिए पुरुषोत्तम अपने में से श्रीवृंदावन, गोवर्द्धन, यमुना, कुंज—निकुंज, वृक्ष, पशु, गोकुल आदि को भी प्रकट करता है। ये सब पुरुषोत्तम के आधिदैविक ऐश्वर्य रूप होने से आनन्दमयचंतन रूप हैं, फिर भी कृष्ण लीला के लिए इन सबने जड़ता धारणा कर ली है।

जिस प्रकार आचार्य वल्लभ ने दार्शनिक दृष्टि से शुद्धाद्वैत का विवेचन किया, सभी प्रकार साधना की दृष्टि से प्रेमलक्षणाभक्ति को सामान्य जीवों के लिए स्वाभाविक एवं सुगम बताया। उनकी दृष्टि में मस्तिष्क प्रधान जीव ज्ञान की चरम साधना में प्रवृत्त होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है, परन्तु हृदय प्रधान भावुक व्यक्ति के लिए प्रेममार्ग ही सुगम है। उनके द्वारा प्रतिपादित भक्तिमार्ग को “पुष्टिमार्ग” कहते हैं। इस

नामकरण की प्रेरणा उन्हें भागवत् पुराण के “पोषणं तदनुग्रहः” (2/10/4) से मिली। इसके अनुसार भगवान के अनुग्रह से ही जीव का वास्तविक पोषण होता है, भगवान के प्रति सर्वात्मना समर्पण ही इस भक्ति का बीज मंत्र है और गोपियों का भक्ति को आदर्श माना गया है। गोपियों की तीन श्रेणियां मानी गई हैं। (1) बहांगनाएं (2) कुमारिकाएं (3) गोपांगनाएं। ब्रजांगनाएं श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्य भाव रखती हैं, कुमारिकाओं ने कात्यायनी व्रत से कृष्ण की उपासना पतिरूप में की, कृष्ण के प्रति उनका स्वकीया भाव है, गोपांगनाओं ने लोक-वेद की मर्यादा का अधिक्रमण कर परकीया भाव से श्रीकृष्ण की भक्ति की। उन्हें पुष्टि-पुष्टजीव माना गया है। सूरदास के भ्रमरगीत में इन्हीं गोपांगनाओं की प्रेमलक्षणाभक्ति की लगन अवस्था की अनेक भंगिताओं में अभिव्यक्ति की गई है। उसमें प्रवास विरह की अन्तर्दशाओं के रमणीक चित्र भी मिलेंगे क्योंकि इस भक्ति में राधा कृष्ण की सेवा तथा कृष्ण की मधुर लीलाओं में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने के लिए भक्त गोपीभाव की इच्छा करता है और आत्मसमर्पण कर रसलीन हो जाता है।

सूरदास के “भ्रमरगीत” में व्यक्त दार्शनिक मान्यताओं का विवेचन निम्नलिखित तथ्यों के आलोक में किया जा सकता है—

1. सूरदास का निर्गुण और सगुण विषयक दृष्टिकोण क्या है?
2. ज्ञान और भक्ति से संबद्ध मान्यताएं क्या हैं?
3. योग की प्रखर आलोचना का रहस्य क्या है?
4. पुष्टिमार्गीय भक्ति किस रूप में व्यक्त हुई है?

1. भ्रमरगीत में निर्गुण ब्रह्म – जैसे कि पूर्वोल्लेख किया जा चुका है कि सूरदास के पूर्ववर्ती संत

संप्रदाय में निर्गुण की ही प्रधानता थी। सभी प्रकार के लोगों के लिए निर्गुण की साधना ही बतलाई जाती थी। भक्त कवियों ने इसे अव्यवहारिक मानकर सगुण का पक्ष लिया। उनकी दृष्टि में “अविगत की गति” कहने योग्य नहीं है। विवेक सम्पन्न प्राणी ही निर्गुण के पथ पर चल सकता है। उनकी उपलब्धि का साणन है, योग और ज्ञान। इसकी साधना विद्या-बुद्धि वालों की पहुंच के बाहर है। उद्धव न ब्रह्म का स्वरूप बताते हुए कहा कि वे तो अव्यक्त, अविनाशी और सर्वव्यापक हैं, अतः उनके सगुण रूप को छोड़कर निर्गुण रूप से ध्यान करना चाहिए।

**वै अविगत अविनासी पूरन, सब घट रहे समाई।
तत्त्व ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है, वेद पुराननि गाइ।।
सगुण रूप तजि निरगुन ध्यावहु, इक चित इकमन
लाइ।**

**वह उपाइ करि विरह तरौ तुम, मिलै ब्रह्म अब
आई।।**

ईश्वर तो सबके हृदय में उसी प्रकार निवास करते हैं, जैसे वृक्ष में अग्नि। ऐसी अवस्था में निर्गुण को छोड़कर सगुण के लिए दौड़ना व्यर्थ है।

**घट-घट व्यापक दारु अगिनि, ज्यों सदा बसैं
उस माहीं।**

**निरगुन छॉडि सगुन कौ दौरति, सुघाँ कहां किहि
पाहीं।।**

उनके रूप, वर्ग और शरीर नहीं है। उनके माता-पिता आदि नहीं हैं। वे स्वयं ही माता और पिता हैं। वह अलख हैं, विगत हैं, और सर्वथा निराकर हैं।

**एकै अलख अपार आदि अविगत है सौई।
आदि निरंजन नाम ताहि रीझै सब कोई।।**

इसे सुनकर गोपियांनिर्गुण ब्रह्म का सैद्धान्तिक विरोध नहीं करतीं। वे यह नहीं करतीं कि निर्गुण ब्रह्म नहीं होता। किंतु वे कहती हैं कि हम जानती ही पार्टी और जान भी नहीं करतीं कि निर्गुण ब्रह्म कैसा होता है –

**पूरन ब्रह्म तुम्हारौ ठाकुर, आगे माया नाची।
यह इहि गाउन समुझत कोऊ, कैसो निरगुन
होत।।**

जगत् के नाना रूपों ने ब्रह्म की प्रत्यक्ष सत्ता दिखाई दे रही है, उसका जो सगुण रूप भासित हो रहा है। उसका बार-बार निषेध और निर्गुण ब्रह्म का सूक्ष्म इतना भारी दमकता हुआ, मेरू छिपाने का उद्योग कर रहे हो।

**सुनिहै कथा बैन निर्गुण की रचि पचि बात
बनावत।**

**सगुन सुमेरू प्रकट देखियत, तुम तृन की ओट
दुरावत।।**

वे विनोद से पूछती कि निर्गुण किस दिशा और देश का रहने वाला है, उसके माता-पिता का परिचय क्या है?

निर्गुण कौन स की बासी।

**मधुकर! हँसि मुझाय, साँह दे बुझति साँच न
हाँसी।।**

X X X

**को है जनक, मनि का कहियत, कौन नारि कौ
दासी?**

गोपियों का विनोद भी कितना मार्मिक है, जिसमें उद्धय मन लगाने को कहते हैं, उसका ऐसा लक्षण तो बताना होगा, जिस पर मनल ठहराया जा सके। वे खीझकर कहती हैं कि हमें तो निर्गुण का परिचय ही नहीं है। हमें तो केवल सगुण का

ज्ञान है औश्र हम उनके सगुण रूप-सागर में अपने को निमग्न कर बैठी हैं और जब किसी प्रकार छोड़ नहीं सकतीं। चाहे लाभ हो या हानि।

नहीं हम निरम् साँ पहिचानि।

**मन मनसा रस रूप सिंधु में नहीं अपुन ब्रह्म
बखानि।।**

यदपि आदि सपदेसत ऊधौ पूरन ब्रह्म बखानि।

**चित चुभ रही मन मोहन की चितवनि मृदु
मुसकानि।।**

X X X

**छूटत नहीं सहत सूरत प्रभु दुःख सुख लाभ कि
हानि।।**

निर्गुण इतना अगाध अर अपार है कि वहां मन पहुंच ही नहीं सकता, जल के बिना नहर, दीवार के बिना चित्र और चित्त के बिना चतुराई कैसे संभव है –

अतिहि अगाध अपार अगोचर मनसा तहां न जाई।

**जल बिनु तरंग भीति बिनु चित्रन बिनु चित ही
चतुराई।।**

वे पूछती हैं कि वह बिना रूप-रेखा वाला तुम्हें प्रत्यक्ष कभी होता भी है, तुम्हें आकर्षित औश्र मोहित भी करता है।

रेख न रूप, बरन जाके नहि, ताको हमें बतावत।

अपनी कहो, दरस वैसे को तुम कबहुँ हो पावत।।

—भ्रमरगीत सार, 131

“बतावत” शब्द की असंगतता दर्शनीय है, जिसकी न कोई रूप रेखा, न वर्ण उसे बताना या बताने का प्रयत्न करना असंगत ही है। विशिष्ट रूप वाली वस्तु ही बताई जा सकती है। इस प्रकार भ्रमरगीत में सूरदास जी निर्गुण ब्रह्म के सैद्धान्तिक रूप का खण्डन नहीं करते। वे मानते

हैं कि ब्रह्म पूर्ण है, अव्यक्त है, अरूप है और सर्वव्यापी है। पर गोपियों का पक्ष है, वह हमारे काम का नहीं है, उसमें मन रमाया नहीं जा सकता। इसलिए गोपियों के निर्गुण विषयक खण्डन की दृष्टि यही है कि वह व्यवहार या उपासना के योग्य नहीं, केवल तर्क-वितर्क के लिए है, ज्ञानियों के लिए है।

भ्रमरगीत में सगुण ब्रह्म-जो ब्रह्म अव्यक्त और अविनाशी है, जिसे योगी भोग के अपार सिंधु में ढूँढते हैं और नहीं वहीं तो साकार रूप में यशोदा के ऊखल में बँधा -

**जोगी जोग अपार सिंधु में ढूँढेहु नाहि पावत।
हयाँ हरि प्रगट प्रेम जसुमति के ऊखल आपु
बँधावत।।**

निर्गुण और सगुण का भेदभाव व्यर्थ है। जिसे निर्गुण कहते हैं वहीं तो संतों के लिए सगुण होता है और लीला रूप धारण करता है।

**सूर नंद सुत दयाल, लीला वपु धारी।
निरगुन ते सगुन भये, संतन हितकारी।।**

तुलसी की भी सगुण विषयक यही अवधारणा है-

**सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि
पुरान बुध वेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमबस
सगुन सौ होई।।**

-मानस 1/116/1-2

सगुणोपासना में गुण का अबलंब है, इसके साथ ही उसमें मन को रमाने की शक्ति है। नंदनंदन का रस-रूप अपने मन को आकर्षित करने वाला है। आँखें उस रस रूप में इतनी तल्लीन हो जाती हैं कि और किसी को देख नहीं सकतीं।

अँखियाँ हरि दर्शन की भूखी।

कैसे रहें रूप रस राँची ये बतियाँ सुनि रुखी।

X X X
सूर नंदनंदन के देखते और न कोऊ सूझै।।

सगुण और निर्गुण का सबसे बड़ा अन्तर यह है कि सगुण रूप अत्यन्त सरस है तो निर्गुण निपट नीरस।

ए अलि। कहा योग में नीको।

**तजि रस-रीति नंदनंदन की सिखवत निर्गुन
फीको।।**

X X X
**सूर कहौ गुरु कौन करै अलि! कौन सुनै मत
फीको।।**

सगुणोपासना साधार होती है, मन को रमाती है। निर्गुणोपासना निराधार होती है, रु मन को चक्कर में डालती है।

**रूप-रेख, गुन जाति तुगुति बिनु निरालंब मन
चकृत धौवै।**

**सब विधि अगम विचारिहिं ताते हुए सगुन लीला
पर गावै।।**

**रूप न रेख बदन वपु जाके संग न सखा सहाई।
तानिर्गुन सौ प्रीति निरंतर क्यों निबहै री माई।।**

-भ्रमरगीत सार, 44

सारांश यह कि ब्रह्म में रूप का अबलंब है। निर्गुण की भांति निरालंब नहीं है। सगुण ब्रह्म की उपासना के लिए साधनाओं का पहाड़ नहीं चढ़ना पड़ता। प्रभु की मनोहर लीलाएं ही जगत् के बन्धनों को तोड़ देती है। मन इनमें इतना रम जाता है कि उसे छोड़कर और कहीं जाता ही नहीं। वह इतना सरस है कि एक बार उस ओर अनुराग होते ही सारा जगत् नीरस लगता है।

इस प्रकार सूर के भ्रमरगीत में तर्क बुद्धिगत तर्क से नहीं हृदय की भाव प्रवणता के आधार पर सगुण रूप की प्रतिष्ठा की गई है। निर्गुण ब्रह्म सैद्धान्तिक रूप से मान्य होते हुए भी ग्राह्य न होने के कारण अमान्य है। उसकी आराधना दुस्साध्य है, भले ही उसे चारों पुरुषार्थों की सिद्धि हो, भक्त उसे स्वीकार नहीं करता –

*अपने सगुण गोपालहिं माई इहि विधि काहे देति।
ऊधो की इन मीठी बातनि निर्गुण कैसे लेति।।*

X X X

सूर स्याम तजि को भुस फटके मधुपतिहारे हेति।।

(2) **भ्रमरगीत में ज्ञान और भक्ति** – निर्गुण और सगुण के स्वरूप भेद के अतिरिक्त भ्रमरगीत में ज्ञान (योग) और भक्तिमार्ग का विवाद भी प्रस्तुत किया गया है। निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है ज्ञान मार्ग और सगुण ब्रह्म की रसानुभूति का माध्यम है भक्ति मार्ग।

ज्ञान या योग की साधना भली न हो, सो नहीं। वस्तुतः वह कठिन है। सामान्य विद्या-बुद्धि वालों की पहुंच से परे है। पक्ष में उद्धव ऐसे ज्ञान-वरिष्ठ पुरुष और विपक्ष में ब्रजवासिनी ऐसी ज्ञान कनिष्ठ स्त्रियों को खड़ा करके सूर ने ज्ञान एवं योग का प्रतिरोध साधारण जनता की दृष्टि से किया है। ज्ञान की ऊँची तत्त्व चिन्ता उनके लिए नहीं। ज्ञान योग के प्रतिपक्ष में प्रेमयोग का मंडन करके यह प्रतिपादित किया गया है कि भक्ति की पही चरमावधि है तो ज्ञान की।

*अहो अजान! ज्ञान उपदेसत ज्ञान रूप हमहीं।
निसिदिन ध्यान सूर प्रभु को अलि!देखत जित
तितहीं।।*

सूरदास की ज्ञान और भक्ति संबंधी धारणा इसी में निहित है कि ज्ञान योग का पूरा लेक्चर सुनकर गोपियां अपने प्रेममार्ग को 'सीधा कहती हैं और ज्ञान मार्ग को दुर्गम और दुबोध।

काहे को रोकत मारग सुधो।

सुनहु मधुप! निर्गुन कंटक तें राजपंथ क्यों रूँधो?

प्रेम के सीधे और चौड़े राजमार्ग के सामने ज्ञान का मार्ग संकीर्ण है, कंटकाकीर्ण है। दोनों रास्ते अलग-अलग हैं सूर ज्ञान के विरोधी नहीं, भक्ति विरोधी ज्ञान के विरोधी है।

बार-बार ये बचन निकारो।

भक्ति विरोधी ज्ञान तिहारो।।

– भ्रमरगीत सार, पद 379

तुलसीदास भी 'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका' कहकर ज्ञान मार्ग की दुर्गतमा की और संकेत करते हैं और दोनों का लक्ष्य एक मानते हुए भी 'केवल ज्ञान' के लिए श्रम करने वालों को घर की कामधेनु को छोड़कर अकवन से दूध पाने वाला कहकर उपहास करते हैं। सारांश यह कि भक्तिकाल के इन दो महाकवियों ने सिद्धान्ततः ज्ञान का विरोध नहीं किया है, प्रत्युत उसकी कष्टसाध्यता और दुर्गतमा के कारण भक्ति का पक्ष लिया है।

देखना यह है कि गोपियां ज्ञान का खण्डन किस रूप में करती हैं? उद्धव जब बार-बार ज्ञान अथवा योग की सिफारिश करते हैं तो उन्हें बेवकूफ बनाने लगती हैं, उन्हें व्यापार कहती हैं, परमार्थ (परहित) के गठरी ढोने वाला कहकर उपहास करती हैं। जरा 'योग' के प्रति उनकी बात सुनिए –

उद्धव जोग बिसरजनि जाहू।

बाँधहु गाँठ, कहूँ जनि छूटे, फिरि पाछिताहू।।

ऐसी वस्तु अनुपम मधुकर! मरम न जानै और।

ब्रजवासिन के नाहिं काम की, तुम्हारे ही है ठौर।।

आचार्य शुक्ल की टिप्पणी देखिए—“देखना, अपना योग कहीं भूल न जाना। गाँठ में बाँधे रखो, कहीं छूट जाय तो फिर पीछे पछताओ। ऐसी वस्तु

जिसका मर्म सिवाय तुम्हारे ऐसे दो-चार फालतू दिमाग वालों के और कोई जान ही नहीं सकता, ब्रजवासियों के किसी काम की नहीं। ऐसी फालतू चीज के लिए तुम्हारे ही यहां जगह होगी, यहां नहीं है। ज्ञान योग पर भी कैसी मीठी चुटकी है। जिसे केवल एक-आध आदमी समझते हैं, वह वस्तु सबके काम की नहीं हो सकती। सूर ने ज्ञानयोग के संबंध में ऐसी ही तात्त्विक बातें अनेकत्र दुहरायी हैं।

भक्तिमार्ग के संबंध में सूर के निम्नांकित तथ्य हैं :-

1. भक्ति मार्ग प्रेम प्रधान है। संसार के सभी संबंध प्रेम प्रधान हैं इसलिए प्रेम मार्ग के अवलंबन से जीवन-मुक्ति सरलता से मिल जाती है। दूसरी ओर योग मार्ग अत्यन्त कठिन है, उसमें प्रणों की बाजी लगानी पड़ती है। दोनों में कंचन और कांच का अन्तर है।

हम बूझति सतभाय न्याय तुम्हारों मुख साँचो।

प्रेम-नेम रस कथा कहौ कंचन की काँचों॥

2. भक्ति मार्ग का लक्ष्य है प्रभुलीला का रसानन्द। इसके समक्ष ज्ञान मार्ग की उपलब्धि मुक्ति तुच्छ है -

मुक्ति आनि मंदे में मेली।

X X X

*याहि लागि को भरे हमारे, वृंवावन चरनि सो
ठेली॥*

तुलसी भी तो भक्ति के सामने मुक्ति का निरादर करते हैं। 'मुकुति निरादर भांति सयाने' भक्ति साधना से मुक्ति के चारों रूपों सालेक्य सारूप्य, सायुज्य और सामीप्य की प्राप्ति होती है।

सेवत सुलभ स्यासुन्दर कौं, मुक्ति लही हमचारी।

हम सालेक्य, सरूप, सायुज्यों, रहित समीप

सदाई॥

*सो तजि कहत और की औरै, तुम अलि बड़े
बढ़ाई॥*

प्रभु के सामीप्य का आनन्द की सर्वोपरि है। कोटि स्वर्ग का सुख भी उसकी समता नहीं कर सकता है।

कोटि स्वर्ग सब सुख अनुमानत।

हरिसमीप समता नहि पावत॥

3. भक्ति की प्रेम-साधना और ज्ञान की योग साधना में कोई अंतर नहीं है। दोनों की उपलब्धियाँ परमेश्वर की प्राप्ति तथा संसार के बन्धनों से मुक्ति एक सी हैं। दोनों का रूप भी एक ही सा है। भक्ति मार्ग में भी योग-मार्ग की भांति माता-पिता, भाई-बन्धु पुत्र, पति-पत्नी आदि के संबंधों को छोड़कर प्रभु से एकनिष्ट होना पड़ता है। इसलिए गोपियाँ कहती हैं -

हम अलि गोकुलनाथ आराध्यो।

*मन, क्रम बच हिर सौं धरि पतिव्रत, प्रेम जोग व्रत
साध्यो॥*

*मातु पिता हित प्रीति निगम पथ तजि दुख सुख
भ्रम नाख्यौ।*

*मानापमान परम परितोषी, अस्थिर थित मन
राख्यौ॥*

गोपियों ने योग की सारी स्थितियों को अपने प्रेम-योग में ही पा लिया तो योग-साधना की आवश्यकता ही क्यों ? योग में जिस ज्योति के दर्शन होते हैं, वह तो सगुण की उपासना से स्पयंमेव प्रज्वलित है -

या ब्रज सगुन दीप परगास्यो।

*सुनि ऊधो! भृकुटी त्रिवेदी तट निसिदिन प्रगट
अमास्यो॥*

सबके उर-सखनि सनेह भरि सुमन तिली को

बास्यौ।

गुन अनेक ते गुन कपूर परिमल बारह मास्यौ।।

इस प्रकार ज्ञान योग और प्रेम-योग में तात्विक दृष्टि से अंतर नहीं है। संक्षेप में भ्रमरगीत में प्रतिपादित ज्ञान और भक्ति में साधक के मानसिक स्तर की दृष्टि से भले ही अंतर हो, उपलब्धि की दृष्टि से समानता है। सूर को भक्ति विरोधी ज्ञान स्वीकार्य नहीं है क्योंकि उसमें लीला का रसानन्द नहीं मिलता और निजी सत्ता का लोप हो जाता है।

(3) भ्रमरगीत में योग के प्रति प्रखर आक्रोश क्यों ?

सूरदास के भ्रमरगीत में जिस प्रकार सर्वव्यापक और अविनाशा निगुण ब्रह्म के प्रस्ताव पर गोपियां चिल्ला उठती हैं।

हमसों कहत कौन की बात ?

सुनि ऊधो! हम समुझत नाही, फिर पूछति है तातें।।

को नृप भयो कंस किन मारयो को यसुधौ-सुत आहि?

X X X

को वयापक पूरन अविनासी, को विधि वेद अपार।

सूर वृथा बकवाद करत हो या ब्रज नंदकुमार।।

उसी प्रकार योग के प्रस्ताव पर वे उसे 'योग ठगौरी' 'जोर जहर' 'विष को नरियर' (पद 35) "जोग हमको भोग कुबजहिं" (पद 93) "जोग हमें ऐसो लागत है ज्यों तोहि चम्पक 'फूल' (पद 103) "जोग लेहु संभारि आपने बेचिए जहँ ताहु" (पद 125), आदि कहकर भर्त्सना करती हैं। 'योग-साधना' के खण्डन के लिए सूर ने अपनी नव-नवोन्मेष शालिनी प्रमिभा से जिनी उद्भावनाएं की हैं, उनमें गापियों की केवल खीझ ही नहीं व्यक्त हुई है, प्रत्युत कृष्ण प्रेम की अनन्यता भी

उतनी उभरी है। उनकी रूप-दर्शानोत्कण्ठा भी उतनी ही व्यंजित हुई है।

उदाहरणार्थ -

ऊधो! होत कहा समुझाए ?

चित चुभी रही सौवरी मूरति, जोग कहा तुम लाए।। (पद 240)

विचारणीय प्रश्न है कि भ्रमरगीत में योग के खण्ड के पीछे क्या तात्कालिक परिस्थिति प्रेरक थी अथवा सूरदास की अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति।

सूरदास के युग में सबसे प्रवल मतवाद था नाथपंथी योबियों का। सूरदास ने गापियों के मुख से इस मत के विषय में बहुत कुछ कहलाया है। ये आसन, ध्यान, आराधना आदि के द्वारा साधना करते थे। मुद्रा, भस्म, पिषाण, मृगचर्म आदि धरण करते थे। ये आसन बाँध कर आँख मूदकर ध्यान किया करते थे और गोरखनाथ का नाम लेकर अलख जगाया करते थे। ये कहा करते थे, भगवान शून्य सहज में वास करते हैं। इंगला, पिंजला और सुषम्ना और सुषम्ना नाड़ियों में होता हुआ जीवात्मा ब्रह्म सायुज्य को पाता है। ये सर्वजगत् को ब्रह्ममय देखने का उपदेश देते थे। ऐसा करने पर इन लोगों के कथनानुसार अन्तज्योति का साक्षात्कार होता था। यही अन्तज्योति अच्युत, अविगत और अविनाशी है।

सूरदास इन सारी योग-क्रियोओं और कृच्छ साधनाओं को अनावश्यक मानते हैं। प्रेम के सामने ये कोई चीज नहीं। उनका मत है भक्ति रूपरी सहज-पंथ के रहते यह योग मार्ग, सब से उच्च हाते हुए भी, व्यथ भार है।

हम अबला का जानहीं, योग-जुगुति की रीति।

नंदनंदन को छाँड़ि के, को लिखि पूजै भीति।।

विद्वानों की दृष्टि में उस समय नाथपंथी योगियों का योगमार्ग और कबीर आदि का निर्गुण मार्ग-ये दो मतवाद जोरों पर थे। योगमार्ग में कृच्छ

साधना पर अधिक जोर दिया जाता था और निर्गुण मार्ग में ज्ञान पर। और बहुत से पंथ उस समय प्रचलित थे, जैसे काशी के मुड़िया या मुंडित सन्यासी। सूरदास ने इन ज्ञान प्रधान साधकों की चर्चा की है। सूरदार ने गोपियों के माध्यम से योग की बाह्य क्रियाओं का खण्डन कर प्रेममार्ग का समर्थन किया है। उनकी धारणा है। कि केवल प्रेम चाहिए, प्रेम से ही वे मिलते हैं

प्रेम प्रेम सो होइ प्रेम सो पारहि जैयो।

प्रेम बैध्यों संसार प्रेम परमारथ पैये।।

एकै निहचै प्रेम को जीवन्मुक्ति रसाला।

साँचो निहचै प्रेम को जिहितें मिलै गुपाल।

इस प्रकार योगमार्ग के अत्यन्त व्यपक प्रचार-प्रसाद रसे जो अव्यवस्था फैल रही थी, उसे लक्ष्य कर सूर ने प्रेम मार्ग का समर्थन किया। उनकी दृष्टि में योग सबके लिए नहीं है, विद्या-बुद्धि सम्पन्न लोगों के लिए उचित है, अन्य लोगों के लिए भक्तिमार्ग ही श्रेयस्कर है। सूरदास का यही मत था।

(4) भ्रमरगीत में पुष्टिमार्गीय भक्ति—सूरदास का भ्रमरगीत पुष्टिमार्गीय भक्ति (प्रेमलक्षणा भक्ति) का रमणीय निदर्शन है। यह राग प्रधाना मार्ग है। इसमें हृदय की भाव-प्रवण अवस्था के इतने रसात्मक प्रसंग आते हैं कि उसका प्रभाव उद्धव जैसे परम ज्ञानी को अपने रंग में रंग लेता है।

अब अति पंगु भयो मन मेरो।

गयो तहां निर्गुण कहिबे को, भयो सगुन कौ

थेरो।।

अति अज्ञान कहत कहि आयो सूत भयो वाहि

केरो।

X

X

X

**सूर मधुप उठि चल्यां मधुपुरी बोरी जोग को
बेरी।।**

गोपियों के जीवन में सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण हैं, उन्होंने सर्वस्व समर्पण कर दिया है –

देह गेह समेत अर्पन कमल-लोचन धान।

सूर उनके भजन आगे लगै फीको ज्ञान।। (3383)

गोपियाँ प्रेम में तन्मय होकर तुम्हारी लीला का अनुकरण करने लगती हैं। और आहों को रँभाने लगती हैं, कोई मंडली बनाकर छाछ बाँटने लगती हैं, एक का अनुकरण करती है और तुम्हारे कर्माँ के गान में अपने को खो जाती हैं। ऐसी स्थिति में मेरा कहना “पवन को भुस” हो गया तो और ‘सूर केवल फेको लागत है देखत वह रसरीति।’ निष्कर्ष यह कि भ्रमरगीत आख्यान की सहमति से यह ध्वनित है कि आचार्य वल्लभ ने जिस गोपी प्रेम को पुष्टिमार्गीय का आदर्श बताया (गोपिकानाँ तु यद् दुःख सुदुःखं स्यात् मम् कृचित्” बिरहसक्ति दशा की इसमें अभिव्यक्ति हुई है।

मुष्टिमार्गीय भक्ति में रसेश्वर रूप को वरेण्य माना गया है। ब्रह्म का एक धर्म संस्थापक रूप है दूसरा रक्षात्मक रूप। मथुरा, द्वारका और कुरुक्षेत्र है और रक्षण और धर्मसंस्थापना की लीलाओं को करने वाले और ब्रज में दुष्टों की रक्षा करने वाले कृष्ण का रूप धर्म संस्थापक रूप है और बालरूप में माता देवकी और बाबा नंद को आनन्दित करने वाले, ब्रज में सखाओं के साथ गोचारण करने वाले तथा गोकुल में वाले, ब्रज में सखाओं के साथ गोचारण करने वाले तथा गोकुल में वृंदावन में गोपियों के साथ रचाने वाले किशोर का रूप रसात्मक है। श्री वल्लभ ने केवल रसेश्वर श्रीकृष्ण को अपनाया। इन्हीं को सब कुछ अर्पित कर देना ही ब्रज भाव की प्राप्ति है, पृष्टि भक्ति है। भ्रमरगीत

के कवियों ने भी इसी रमेश्वर रूप को नेत्रों में बसा लेने की कामना की है।

नयननि वहै रूप जो देख्यो।

*तौ ऊधो यह जीवन जग को, साँचु सपल करि
लेख्यो॥*

*लोचन चारु चपल खंजन, मनरंजन हृदय हमारे।
रुचिर कमल मृग मीन मनोहर स्वेज अरुन अरुँ
कारे॥*

*रतन जटिल कुंडल श्रीननि वर, गंड कपोलनि
झाँई।*

*मनु दिनकर प्रतिबिम्ब मुकुर महँ ढूँढत यह छवि
पाई॥*

*मुरली अधर निकट भौहें करि ठाढ़े होत त्रिभंग।
मुकुतमाल उस नीलसिखर ते धसि धरनी ज्यों
गंग॥*

*और भेस को कहे बरनि सब अंग-अंग केसरि
खौर।*

*देखत बनै, कहत रसना सो, 'सूर' चिलोकत
और॥*

—भ्रमरगीत सार 72

इनके हृदय में वह 'माखनचोर' ही गड़ गया है, वह त्रिभंगी मुद्रा निले किते ? वे उस सुख को तरसती रहती हैं तो उन्हें मुरलीधर के मुखदर्शन के मिला करता था -

ऊधो ! वे सुख अवै कहाँ।

*छन-छन नयनन निरखति जो मुख फिर मन जात
वहाँ॥*

*मुख मुरली, सिर मोरपंखोआ, उर घुघचिन को
हारु।*

आगे धेनु रेनु तनमांडित तिरछी चितवनि चारु॥

इस प्रकार प्रायः प्रत्येक पद में सूर ने किसी न किसी रूप में पुष्टि-भक्ति में निहित रूपाशक्ति की चर्चा की है।

पुष्टि भक्ति की अन्य ध्यातव्य विशेषता है - कृष्ण के प्रति अनान्यता। 'भ्रमरगीत' का एक उद्धृत है।

नाहिन रहयौ मन में ठौर।

नंदनंदन अछत कैसे आनिए उर और॥

*चलत सचितवत दिवस जागत सपन सोवत राति।
हृदय तें वह स्याम मूरति छन न इत-उत
जाति॥*

X X X

सुर ऐसे रूप-कारन मरत लोचन प्यास॥

इसमें बढ़कर रूपानन्यता और कहां मिलेगी ?

तौ हम माने बात तुम्हारी।

अपने ब्रह्मादिखावहु ऊधो मुकुट पीताम्बरधारी॥

(पद 70)

पुष्टिभक्ति में कृष्ण प्रेम के लिए लोक-मर्यादा, कुल-धर्म आदि को छोड़ दिया जाता है। ज्ञान, ध्यान, कर्म-धर्म आदि सबसे ऊपर आत्म-समर्पणकारी प्रेम को ही महत्त्व दिया जाता है। गोपियाँ लोग की समकक्षता प्रदान करती हुई करती हैं।

ऊधो! जोग तबहि हम जान्यो।

*जा दिल से सुफलक सुत के संग, रथ ब्रजनाथ
पलान्यो॥*

*जा दिन ते तब छोडु-मोह मिटि सुत-पति हेत
गुलान्यो।*

*तजि माया संसार सार को ब्रजबनितन ब्रत
ठान्यो॥*

पुष्टिभक्ति में मुक्ति की कामना नहीं रहती। ज्ञान के द्वारा जीव को ब्रह्मात्मकता की प्राप्ति हो जाती है, उसी सत्ता का लोप हो जाता है। गोपियाँ पारस और लोहे के दृष्टान्त से अपनी बात कहती हैं कि ज्ञान में बार-बार का आकर्षण मिट जाता है।

सोहत लोह परसु पारस ज्यों सुबरन बारह बानि।

पुनि वह चोप कहाँ चुम्बक ज्यो लपटाय

लपआनि।।

अब बूँद की पहचान समुद्र में कहाँ रहेगी ?

परयौ जो पयनिधि बूँद अल्प ओ को जो अब

पहिचाने।

तात्पर्य यह कि भक्ति में भक्त लीला के लिए अपनी सत्ता को बनाए रखना चाहता है।

पुष्टिभक्ति का प्रधान एवं सर्वोपरि लक्षण है—भगवदनुग्रह को महत्त्व देना। भगवान के अनुग्रह से ही भक्त का पोषक होता है। 'पोषणं तदनुग्रहः' यहाँ साधना का महत्त्व नहीं, भगवत्कृपा से ही सब कुछ होता है। सूर के भ्रमरगीत में जो योग का इतना प्रबल खंडन दिखाई देता है। उसका रहस्य यही है क्योंकि योग साधना प्रधान है, उसमें पुरुषार्थ ही प्रधान है। इसीलिए सूर ने प्रेम मार्ग के समर्थन के लिये अनेक, रोचक युक्तियाँ निकाली हैं। गोपियों ने योग का उपहास करते हुए कहा —

ऊधो! कहा कवत विपरीति।

जुबतिन जोग सिखावन आप यह तो

उलटी रीति।।

जोतत धेनु, दुहत पय वृष को, करन लगे

जो अनीति।

X X X X

सूर स्याम अति भ्रंग माधुरी रही गोपिका

जीति।। (भ्रमर गीत 133)

सम्भवतः उपलब्ध भ्रमरगीतों में अनेक नूतन उद्भावनाओं के साथ भावनात्मक पद्धति से इस प्रकार पुरुषार्थ प्रधान योगमार्ग का खण्डन नहीं हुआ है। जितना सूर के भ्रमरगीतों में उसकी परिणति भी उद्भव के मत-परिवर्तन में हुई है।

यह लीला विनोद गोपिन के देखे ही बनि आवै।

मोको बहुरि कहाँ वैसो सुख, बड़भागी सो

पावै।।

— भ्रमरगीत सार 385

अन्त में यह कहना समीचीन होगा कि सूर के समस्त दार्शनिक कथन भक्ति के सन्दर्भ में ही हैं। उन्होंने प्रेम भक्ति का बड़ा ही व्यावहारिक रूप उपस्थित किया है। जिस प्रार बल्लभाचार्य ने ब्रह्म की निराकारता और निर्गुणता के बोध को मान्यता देते हुए भी सगुण रूप को माना है, उसी प्रकार सूर ने भी निर्गुण को स्वीकार करते हुए भी भक्तिपक्ष में सगुणरूप को ग्रहण किया है तथा ब्रह्म के साकार रूप की कल्पना की है, उसी की विविध लीलाओं में रसानन्द का अनुभव किया है। सब विधि अगम विचारहिं ताते सूर सगुण लीला पद गावै।

संदर्भ

➤ प्रतिपदों में ब्रह्म के निर्गुण और दोनों रूपों का वर्णन है। वह एक ब्रह्म सर्वव्यापी और संसार के सभी प्राणियों में निवास करने वाला निर्गुण ब्रह्म है —

○ एको देवः सर्वभूतेषु गुढः

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मक।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः

साक्षी चेतो केवलो निर्गुणश्च।।

○ उस ब्रह्म को किसी प्रकार से नहीं जाना जा सकता —

- नैव वाचा मनसा प्राप्तं शक्यो न चक्षुषा ।
- हिंदी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 82
- हिंदी साहित्य का वस्तुपरख इतिहास—राम प्रसाद मिश्र, पृ. 11
- भ्रमरगीत का दार्शनिक दृष्टिकोण—डॉ. पूनम, पृ. 123
- भ्रमरगीत काव्य और परम्परा—डॉ. महेश चन्द्र विधू, पृ. 99